वर्षम् - ०२ अङ्कः - ०२ शोधज्योतिः
जनवरी-दिसम्बर, २०२० ISSN-2350-0700

महाकवि कालिदास के लोकोपदेश

प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी[१]

महाकवि कालिदास के वाङ्मय का लौकिक सन्देश क्या है, और भावी राष्ट्रीय नेतृत्व को समुचित रूप से सुरक्षित करने के लिए महाकवि कालिदास ने अपने वाङ्मय के माध्यम से भारतीय समाज और भारतीय चेतना को किस प्रकार से प्रेरित किया है, यह आज का महाकवि कालिदास के वाङ्मय पर आश्रित मेरे वक्तव्य का प्रधान विषय है।

महाकवि कालिदास के वाङ्मय पर जब हम विचार करते हैं तो पाते हैं कि उनकी कविता में उपलब्ध लगभग सभी वक्तव्य सार्वभौमिक भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के प्रकाश हैं। शब्दार्थ की योजना का नाम है साहित्य, परन्तु साहित्य से तात्पर्य वस्तुतः कवि के प्रातिभ वक्तव्य से है। ऐसा इसलिए कि जब हम एक भाषा के साहित्य को दूसरी भाषा में अनूदित करते हैं, तो हम देखते हैं कि वहाँ भाषा का बाह्य कलेवर बदल जाता है, परन्तु महाकवि का वक्तव्य नहीं बदलता। अतएव कालक्रम से प्रतिष्ठा होती है वक्तव्य के इतिहास में महाकवि कालिदास को सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली। सैकड़ों कवि हुए जिन्होंने अपनी कविता से संस्कृत जगत् को समृद्ध किया, लेकिन ऐसा होते हुए भी नवम शताब्दी में आचार्य आनन्दवर्धन स्पष्ट लिखते हैं -

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥ ध्वन्यालोक १.६॥

तद् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यण् प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति, येनास्मित्रतिविचित्रकविपरम्परवाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते। अस्मिन् अतिविचित्रकविपरम्परवाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयः द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते (ध्वन्यालोक १-१ वृत्ति)।

बहुत बडी परम्परा है संस्कृत के कवियों की लेकिन महाकवियों की गणना करने पर दो या तीन या फिर पाँच या छः से आगे आचार्य आनन्दवर्धन नहीं जाते। आचार्य ने इन महाकवियों में भी सर्वप्रथम उल्लेख किया है, महाकवि कालिदास का। इसमें कारण क्या है। तो इस विषय में आचार्य

---

[१] संस्कृतविभागः, कलासंकायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी २२१ ००५

कहते हैं कि महाकवि की सरस्वती या वाणी कारण है, जो उनकी अलौकिक प्रतिभा की प्रकाशिका है। जो सन्देश महाकवि ने अपनी कविता के माध्यम से लोक को दिया वह अपूर्व है, अलौकिक है और असदृश है। वही प्रतिभा है महाकवि कि जो आज २१०० वर्ष बाद भी उनकी कविता को अत्यन्त प्रासंगिक बनाए हुए है। आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं - **अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमता प्रज्ञा प्रतिभा मता।**

आचार्य आनन्दवर्धन ने जिस प्रतीयमान अर्थ को लेकर अभिनव सम्प्रदायप्रवर्तक साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ "ध्वन्यालोक" की रचना की वह प्रतीयमान अर्थ प्रत्येक पद में उपस्थित मिलता है महाकवि की वाणी में। यही कारण है कि आज भी महाकवि की वाणी को लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त है। २००० वर्षों में विरचित संस्कृत काव्यशास्त्र का जब हम अवलोकन करते हैं, तो पाते हैं कि आचार्य वामन से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ पर्यन्त अधिकांश साहित्यशास्त्रीय आचार्यों ने महाकवि की वाणी को अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के लिए अपनाया है। ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन), काव्यमीमांसा (राजशेखर), वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक), शृंगारप्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजराज), काव्यप्रकाश (मम्मट), व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट), काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), अर्थचित्रमीमांसा तथा कुवलयानन्द (अप्पय दीक्षित), साहित्यमीमांसा (मंख), चन्द्रालोक (जयदेव), रसार्णवसुधाकर (शिङ्गभूपाल), अलंकारसर्वस्व (रूय्यक), अलंकारविमर्शिनी (जयरथ), अलंकाररत्नाकर (शोभाकरमित्र), अलंकारशेखर (कविकर्णपूर), साहित्यसुधासेन्धु, दशरूपक (धनञ्जय), रसचन्द्रिका, साहित्यदर्पण (विश्वनाथ), रसगङ्गाधर (पण्डितराज जगन्नाथ) इत्यादि सभी साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आचार्यो ने महाकवि कालिदास को आदर दिया, उनके पद्यों को अपना कर। ११ वीं शताब्दी के आचार्य भोजराज ने तो शृङ्गारप्रकाश में महाकवि के ६०० तथा सरस्वतीकण्ठाभरण में १२० पद्यों को उद्धृत किया है। साहित्यशास्त्र की महती परम्परा में महाकवि कालिदास ली कविता की यह प्रतिष्ठा उनकी कविता की उत्कृष्टता का प्रमाण है।

महाकवि कालिदास के अस्तित्व के विषय में ईसा प्रथम शताब्दी शुंगकाल या ईस्वी की चतुर्थ शताब्दी गुप्तकाल इन दोनों तिथियों को लेकर समीक्षकों में मतभेद है, परन्तु दोनों ही तिथियाँ हेत्वाभासाश्रित हैं। ऐसी स्थिति में जिस तिथि के पक्ष में प्रबल हेत्वाभास होगा उसको हमको मानना चाहिए और वह तिथि है महाकवि कालिदास की ईसापूर्व प्रथम शताब्दी शुंगवंश की। अतः महाकवि कालिदास २१०० वर्ष पूर्व हुए यह मानना अधिक प्रामाणिक है। ऐसी स्थिति में इतनी लम्बी कालावधि के बीत जाने से महाकवि कालिदास की कृतियों में मूलपाठ में परिवर्तन उपस्थित होना स्वाभाविक है।

यदि महाकवि कालिदास की रचनाओं को लिपिबद्ध किया भी गया होगा, तो वह लिपि रही होगी अशोककालीन ब्राह्मी लिपि। आज उस लिपि के अध्येता बहुत कम हैं और न ही उसमें लिखित

महाकवि की कृतियों का मूलपाठ आज हमको प्राप्त होता है। परवर्ती परम्परा में नागरीपाठ, दाक्षिणात्यपाथ, कश्मीरीपाथ, गौडीयपाथ आदि अनेक पाठपरम्पराएँ महाकवि के वाङ्मय की प्राप्त होती है, परन्तु इनमें जो नागरीपाठ की परम्परा है वह सर्वाधिक मान्य और प्रचलित है। मुझे आज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने प्रदान किया गया है। अतः यह मेरा दायित्व बनता है कि मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा की गयी महाकवि कालिदास के वाङ्मय की सेवा से आपको परिचित कराऊँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना पण्डित मदन मोहन मालविया ने आज से लगभग नौ दशक पूर्व महाकवि कालिदास के सम्पूर्ण वाङ्मय को "कालिदासग्रन्थावली" के रूप में प्रकाशित करने का संकल्प लिया था और उसका हिन्दी भाषा में अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। महामना द्वारा पण्डित सीताराम चतुर्वेदी जी को यह दायित्व सौंपा गया, जो विधिवत् चरितार्थ हुआ। इसमें सम्मिलित थे अनेक विद्वानों के विभिन्न कृतियों के हिन्दी अनुवाद भी। परन्तु इसको मूलपाठ सम्पादित नहीं था। अतः काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, पूर्व साहित्यविभागाध्यक्ष तथा संकायप्रमुख, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय द्वारा लगभग ३०० से भी अधिक पाण्डुग्रन्थों और प्रकाशित कालिदास वाङ्मय के लगभग सभी संस्करणों को आधार बनाकर तैयार किए गए महाकवि कालिदास के साहित्य के समस्त पाथभेद सहित आलोचनात्मक दो संस्करणों को विश्वविद्यालय ने १९७६ तथा १९८६ में प्रकाशित किया। इसका तृतीय संस्करण २००८ में मध्यप्रदेश के उज्जैन में स्थित "कलिदास संस्कृत अकादमी" द्वारा हिन्दी अनुवाद के साथ "काव्यखण्ड" और "नाट्यखण्ड" इन दो खण्डों में प्रकाशित किया गया। अतः १९७६ से २००८ ईस्वी तक के लगभग तीन दशको से भी अधिक समय तक महाकवि कालिदास के वाङ्मय को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का दायित्व काशीहिन्दूविश्वविद्यालय वहन करता चला आया है। इन सम्पादित संस्करणों में जो पाठ सम्पादन की प्रामाणिक विधि अपनाई गयी है, जिसे अभिनवगुप्तपादाचार्य ने नाट्यशास्त्र पर अपने सुप्रसिद्ध व्याख्यान - अभिनवभारती के प्रारम्भ में ही इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

उपादेयस्य सम्पाठः तदन्यस्य प्रतीकनम्
स्फुटस्याख्या विरोधानां परिहारः सुपूर्णता ॥५॥
लक्ष्यानुसरणं श्लिष्टवक्तव्यांशविवेचनम्।
संगतिः पौनरुक्त्यानां समाधानमनाकुलम् ॥६॥
संग्रहश्चेत्ययं व्याख्याप्रकारोऽत्र समाश्रितः ॥७॥

महाकवि कालिदास की भाषा, भावना, अभ्यास, अर्थसंगति, संस्कार के अनुरूप "उपादेयस्य सम्पाठः" की इस पाठसम्पादन की विधि को अपनाते हुए महाकवि की कृतियों के मूलपाठ को सम्पादित कर इन संस्करणों में प्रस्तुत किया गया है।

हम देखते हैं कि महाकवि कालिदास के प्रत्येक काव्य में कोई प्रधान सन्देश छिपा हुआ है जो विधि-निषेधमूलक लोकयात्रा का प्रवर्त्तक है। **रघुवंश** कहाकाव्य में राजाओं की एक लम्बी परम्परा प्राप्त होती है। दिलीप से प्रारम्भ कर अग्निवर्ण पर्यन्त ३२ राजाओं का उल्लेख रघुवंश में मिलता है। रघुवंश में "रघु" शब्द "रघि/लघि" गत्यर्थक धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है प्रगतिशील मानवता का वंश। जितने भी रघुवंशीय शासक हैं उनमें लोकसंरक्षक प्रगतिशील मानवता की दृढ़ भावना उपस्थिय दिखलाई देती है। रघुवंश महाकाव्य के मंगलाचरण - वागर्थाविव सम्पृक्तौ - उपरान्त महाकवि कालिदास ने चार पद्यों मे रघुवंशीय शासकों के गुणों का उल्लेख किया है जिनकी संख्या सोलह है -

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥१.२॥

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्च्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥१.३॥

त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगूषाणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥१.४॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विशयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनत्यजाम् ॥१.५॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये.....॥

१. ये जन्म से ही हुआ करते हैं शुद्ध इसका प्रमाण है रघु की उत्पत्ति। रघु का जन्म गोमाता कामधेनु की पुत्री नन्दिनी की वसिष्ठ आश्रम में उनके पिता गिलीप तथा माता सुदक्षिणा द्वारा सेवा करने से होता है।
२. ये कर्म में तब तक निरत रहे आते हैं जब तक फलनिष्पन्न न हो,
३. ये शासक बने रहते हैं समुद्रपर्यन्त, पृथिवी के और - रघु ने दिग्विजय द्वारा और महाराज दशरथ ने विजय कर समुद्रपर्यन्त पृथ्वी को अधीन किया था।
४. इनका रथमार्ग स्वर्ग तक पहुँचा रहता है।
५. ये अग्नि में डालते ही रहते हैं आहुति विधिपूर्वक,
६. ये किया करते हैं अर्थियों की अर्चना उन्हें अभीष्ट मात्रा में दान दे दे कर,
७. ये दण्ड देते हैं अपराध के अनुरूप,
८. ये जाग जाते हैं समय से,

९. ये जोड़ते हैं धन त्याग के लिए,

१०.ये मितभाषी बने रहते हैं सत्य के लिए,

११.ये दिग्विजय चाहते तो हैं, किन्तु यश के लिए,

१२.ये गृहस्थाश्रम में आते तो हैं, किन्तु प्रजा (सन्तति, उत्तराधिकारी) के लिए,

१३.ये शैशव में (ही) कर चुकते हैं विद्याभ्यास,

१४.ये चाहते तो विषय हैं, किन्तु यौवन में,

१५.ये वृद्धावस्था आते ही मुनिवृत्ति से जीते और

१६.शरीर छोड़ा करते हैं अन्त में योग से।[१]

यह है भारतीय जीवन का आदर्शस्वरूप। चारों आश्रमों को महाकवि ने "शैशवेऽभ्यस्त..." (१.५) इत्यादि एक ही पद्य में प्रस्तुत कर दिया। इस जीवनपद्धति का अनुसरण करते हैं महाकवि कालिदास के नायक। एक बात ध्यान रखियेगा कि महाकवि कालिदास की सभी कृतियों में ऋषिपरम्परा से रक्षित राजपरम्परा राष्ट्रीय नेतृत्व के लिए योग्य नायकों को तैयार करती दिखाई देती है। अन्य भाषाओं के आलोचक यह आक्षेप करते हैं कि महाकवि कालिदास ने राजकीय परम्परा को बहुत महत्त्व दिया। कुच तो महाकवि कालिदास को दरबारी कवि मानते हैं। लेकिन हम इस आरोप को सिरे से नकारते हैं, क्योंकि राजकीय परम्परा को प्रस्तुत करने में महाकवि कालिदास ने ऋषिपरम्परा को हमेशा आधार बनाया। आप देखिए, रघुवंश में महर्षि वसिष्ठ और विश्वामित्र उपस्थित है। महर्षि वसिष्ठ जहाँ दिलीप की सन्तति प्राप्ति में सहायक बनते हैं वहीं कुश के पुत्र युवराज अतिथि का राज्याभिषेक उनके ही नेतृत्व में राजपुरोहित जैत्र अथ्यर्वमन्त्रों से करते हैं (रघु. १७.१३, ३८)। रघुवंश में महाराज दिलीप महर्षि से स्पष्ट कहते **हैं। इक्ष्वाकूणां दुरापेर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः** (१.७२) - राजा अपने सामर्थ्य से जो प्राप्त नहीं कर सकता उसकी प्राप्ति में सहायक सिद्ध होते हैं महर्षि वसिष्ठ।[२] राजा के सामने समस्या थी सन्तति प्राप्त न होने की। महर्षि वसिष्ठ अपनी योगविद्या से सन्तति के न प्राप्त होने के प्रतिबन्धक कारण को जान लेते हैं। उनके अनुसार देवसुरभि कामधेनु गौ की पूजा में व्यतिक्रम पतिबन्धक बना हुआ था राजा

---

[१] कालिदासग्रन्थावली (काव्यखन्ड एवं नाट्यखण्ड) हिन्दी अनुवाद सहित, प्रधान सम्पादक मिथिलाप्रसादत्रिपाठी, सम्पादक तथा अनुवादक रेवाप्रसाद द्विवेदी, सहायक सम्पादक सदाशिवकुमार द्विवेदी, प्रकाशक - कालिदास संस्कृत अकादमी, विश्वविद्यालय मार्ग, उज्जैन, मध्यप्रदेश। २००८, पृ.१

[२] पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतञ्च भवञ्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चतिषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥८.७८॥
महर्षि वसिष्ठ अजन्मा पुरुष के तीनों पदों में जो हो चुका है, जो हो रहा है और जो होने वाला है, उन तीनों को ज्ञानमय अव्याहत चक्षु से देखते रहते हैं। इन्दुमति के वियोग में अज के विषादग्रस्त होने पर उन्होंने यही किया।

के यहाँ सन्ततिलाभ में। प्रसिद्ध है कि पूजुअ की पूजा में किया गया व्यतिक्रम श्रेय के मार्ग में भाधक बन ही जाता है - प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः (१.७९)।[१]

एक प्रश्न और खड़ा होता है कि रघुवंश में दसवें सर्ग से पन्द्रहवे सर्ग तक भगवान् राम की कथा वर्णित है तब भी इसकी "रघुवंश" यह संज्ञा महाकवि ने क्यों दी? इसका समाधान आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने किया है कि महाकाव्य के प्रारम्भ में जिन सोलह गुणों का उल्लेख महाकवि ने किया है वे सभी गुण महाराज "रघु" में उपस्थित दिखलाई देते हैं। इन क्रमशः ह्रास राजवंश के विलोप में कारण बना। रघुवंशी राजाओं के स्वरूपवर्णन के माध्यम से महाकवि कालिदास लोक को उपदेश देते हैं कि जैसा आपका स्वरूप होगा वैसी आपकी प्रज्ञुहोगी, जैसी आपकी प्रज्ञा, बुद्धि या ज्ञान होगा वैसा आपका आगम होगा, जैसा आपका आगम होगा वैसे आपके कार्यकलाप होंगे और जैसे आपके कार्यकलाप होंगे वैसी आपकी अभ्युन्नति होगी -

आकारसदृशः प्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः
आगमैः सदृशारम्भः आरम्भसदृशोदयः ॥१.१५॥

महाकवि लोक को उपदेश देते हैं कि मनुष्य को अपने स्वरूपनिर्माण पर विशेष ध्यान देना चाहिए और उसके माध्यम से लोकयात्रा प्रशस्त करना चाहिए।

महाकवि कालिदास ने रघुवंशी राजाओं के गुणों के वर्णन के माध्यम से लोक को आदर्श जीवन जीने का उपदेश दिया। वे कहते हैं कि रघुवंशी राजा विषयों से आकृष्ट न होकर होते थे विद्याओं के परादृश्वा विद्वान और धर्मपरायण। प्रजाओं के वे हुआ करते थे वास्तविक पिता, क्योंकि वे ही उन्हें शिक्षित करते, उनकी रक्षा करते और करते थे उनका भरण-पोषण -

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः।
तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना॥

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥१.२३-२४॥

रघु अपने पिता के सौवें अश्वमेध यज्ञ के अश्व की रक्षा में नियुक्त हैं। इन्द्र अदृश्य होकर उस अश्व को चुरा लेते हैं। सम्पूर्ण सेना विषाद की अवस्था में चली जाती है। तभी नन्दिनी गौ उपस्थित होती है। इसके ही प्रभाव से रघु का जन्म हुआ था (रघु. २.६९)। नन्दिनी के कहने पर उसकी गुमातर से अपने

---

[१] महाकवि के काव्यों में प्राप्त होने वाले शापवचनों में सत्य की प्रतिष्ठा दिखाई देती है - **सत्यप्रतिष्ठाया ममोघास्य वाणी भवति** (योगसूत्र)। रघुवंश के अतिरिक्त कुमारसम्भव में शिवाजी का कामदेव को शाप, मेघदूत में कुबेर का यक्ष को शाप, शाकुन्तल में दुर्वासा द्वारा शकुन्तका को दिया गया शाप इसके प्रमाण हैं।

नेत्रों को धोने से रघु अदृश्य इन्द्र को देख लेता है कि वह यज्ञाश्व को चुराकर ले जा रहा है। रघु ने जो वक्तव्य दिया वह आज प्रत्येक प्रभुत्वसम्पत्र व्यक्ति पर लागू होता है। रघु इन्द्र से कहते है कि -

तदङ्गमग्र्यं मघवन्! महाक्रतोरमुं तुरङ्गं ग्रतिमोक्तुमर्हसि।
पथः श्रुते दर्शयितार ईश्वराः मलीमसामाददते न पद्धतिम्॥३.४६॥

इन्द्र देवाधिदेव हैं। उनके ऊपर बहुत बड़ा दायित्व है लोक को नियन्त्रित करने का। यदि वे भी ऐसी स्थिति में अदृश्य होकर अश्वमेध के अश्व को यदि चुराकर ले जा रहे हैं तो ऐसा करना उनके लिए उचित नहीं है। वे ईश्वर है। समर्थ है। वे ही यदि मलीमस मार्ग यानी गलत् रास्ते को अपनाकर स्वार्थ को सिद्ध करते हैं तो वे लोक को गलत सन्देश देत हैं। महाकवि कालिदास का यह वचन आज प्रभुत्वसम्पन्न प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होता है। यदि हम किसी उत्तम पद पर प्रतिष्ठित हैं, प्रभुत्व की अवस्था में हैं, तो हमको अपनी विद्या, ज्ञानार्जन के विपरीत जाकर व्यवहार नहीं करना चाहिए और गलत रास्ते को नहीं अपनाना चाहिए।

इन्द्र ने रघु पर वज्र का प्रहार किया। रघु ने उस प्रहार को सह लिया। क्योंकि वह बलवान् था। इन्द्र कहते हैं कि अश्व को छोड़कर कोई भी वरदान माँग लो तो रघु ने उत्तर दिया-

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि।
अजस्त्र दीक्शाप्रयतश्च मद्गुरुः क्रतोरेशेषेण फलेन युज्यताम्॥ ३.६५॥

प्रभो! यदि आप अश्व छोड़ना नहीं चाहते तो मेरे पिता जो इस समय यज्ञशाला में बैठे हैं उनको ऐसा वर दीजिए कि वे सौवें अश्वमेध का फल इस अश्व के प्राप्त न होने पर भी प्राप्त कर सकें। यहाँ नायक को देवाधिदेव इन्द्र पर भी विजय प्राप्त होती है।

रघु अपने पुत्र अज को राज्य सौपते हैं। महाकवि कालिदास ने वहाँ स्पष्ट रूप से धर्म के लक्षण को प्रस्तुत किया है - **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः स धर्मः** - जहाँ अभ्युदय निःश्रेयस् की सिद्धि का कारण बने उसको ही हमें धर्म मानना चाहिए। भारतीय परम्परा में लौकिक अभ्युदय को हमेशा अपनाया गया, क्योंकि लौकिक अभ्युदय से पलायन का उपदेश हमारी संस्कृति नहीं देती। परन्तु, हम उसी लौकिक अभ्युन्नति को महत्त्व देते हैं जो हमको निःश्रेयस की ओर ले जाए। निःश्रेयस पर दृष्टि रख कर यदि हम अभ्युदय को प्राप्त करते हैं तो हम कभी भी भटकेंगे नहीं। यहाँ महाकवि कालिदास कहते हैं -

यतिपार्थिवलिङ्गाड्धारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ॥८.१६॥

रघुवंश में अपवर्ग और महोदय ये दोनों उपस्थित हैं। क्योंकि वहाँ पर यतिवेषधारी पिता उपस्थित थे अपवर्ग के रास्ते पर चलने के लिए और पार्थिव वेषधारी पुत्र अज उपस्थित थे अभ्युदय के

मार्ग पर चलने के लिए। दोनों जी पिता पुत्र धर्म के अंश के रूप में पृथ्वी पर प्रतिष्ठित होते हुए दिखलाई देते है। प्रारम्भ में जो महाकवि कालिदास ने कहा - **योगेनान्ते तनुत्यजाम्** - उसके अनुसार महाकवि कालिदास का प्रत्येक शासक जीवन की तुरीय अवस्था में वानप्रस्थ या संन्यास को अपना लेता है, और अपने योग्य उत्तराधिकारी पुत्र को शासन के बागडोर सौंप कर वन की और प्रस्थान कर जाता है। यहाँ पर रघु भी योगसमाधि से उत्कृष्ट पद को प्राप्त कर लेते हैं - **तमसः पदमापदव्ययं पुरुषः योगसमाधिना रघुः** (८.२४)।

रघु के उपरान्त इन्दुमती के वियोग में जब राजकीय दायित्व से विमुख होते हैं महाराज अज तो वहाँ उपस्थित होते हैं महर्षि वसिष्ठ और अज को अपने दायित्व के प्रति सजग करते हैं।[१] वे विदर्भनरेश की कन्या इन्दुमती के जन्म का वृत्तान्त अज तक पहुंचाते हैं। इन्दुमती पूर्वजन्म की शापित हरिणी नामक अप्सरा थी जिसको इन्द्र की प्रेरणा से समाधिभङ्ग का अपराध करने के कारण तृणबिन्दु ऋषि ने मानुषी होने का शाप दे दिया था। उन्होंने क्षमायाचना करने पर शापावधि को स्वर्गलोक के पुष्प के दर्शन तक सीमित कर दिया था। नारद जी की वीणा से गिरी पुष्पमाला के सम्पर्क से इन्दुमति मुक्त हो जाती है (रघु. ८.७६-८६)। महर्षि वसिष्ठ राजकाज से विरक्त हुए अज को उपदेश देते हैं कि -

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥८.८७॥

मृत्यु मनुष्य का स्वभाव है। प्रकृति या विकार कीए जो वर्तमान अवस्था जी है जीवन। जीवन की क्षणभंगुरता का इस प्रकार उपदेश देते हुए महर्षि वशिष्ठ अज को पुनः उसके राजकीय कर्तव्यकर्म के प्रति तत्पर होने का आदेश देते हैं। अज ने अभी गंगा और सरयू के संगम पर योग समाधि के माध्यम से अपने शरीर का परित्याग कर दिया -

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो -
र्देहत्यागात् अमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः॥८.९५॥

यह थी योगविद्या से शरीरत्याग के प्रति समर्पित दृष्टि राजा अज की। अज ने अपने पुत्र दशरथ को राजकीय दायित्व सौंपा और - **योगेनान्ते तनुत्यजाम्** - की पूर्व परम्परा को चरितार्थ किया।

---

१ अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद् गुरुरथ्रमस्थितः।
अभिषङ्गजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत्॥८.७५॥
गुरु वसिष्ठ योगविद्या से जान जाते हैं कि अज प्रियावियोग के शोक से व्याकुल हो अपने दायित्व से विमुख है। वे यज्ञ में दीक्षित्त थे अतः स्वयं नहीं जा सकते थे उसके पास। अपने शिष्य के माध्यम से वे अज को सम्बोधित कर अपना सन्देश पहुँचाते हैं और उसको राजकीय दायित्व का समुचित पालन करने का आदेश देते हैं।

दशरथ भी अपने चार पुत्रों से उसी प्रकार सुशोभित हुए जैसे जीवन के सर्वोच्च मूल्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों के चारों वहाँ उपस्थित हो गए हों -

स चतुर्धा बभौ व्यस्तो प्रसन्नः पृथिवीपतेः।
धर्मार्थकाममोक्षणां अवतार इवांगभाक्॥१०.८४॥

इस प्रकार से यदि आप देखें तो महाकवि कालिदास के नायकों में भारतीय सांस्कृतिक मूल्य प्रत्यक्ष उपस्थित होते हुए दिखलाई देते हैं। वे योग्य राष्ट्रिय नेतृत्व को प्रदान करते हुए योगविद्या के माध्यम से निःश्रेयस के मार्ग पर चल पड़ते हैं। यहाँ अभ्युदय की प्राप्ति भी प्रतिष्ठित है, और अपवर्ग भी। इस माध्यम से महाकवि कालिदास लोक को उपदेश देते हैं कि हमें अभ्युदय की प्राप्ति तो करनी चाहिए, परन्तु हमारी दृष्टि हमेशा निःश्रेयस पर केन्द्रित रहे।

महाकवि कालिदास विरचित दूसरा महाकाव्य है **कुमारसम्भव**। इसमें कुमार कार्त्तिकेय की उत्पत्ति के अनुकूल भगवान् शिव और पर्वतराज हिमालय की पुत्री पार्वती (उमा) के तपस्या की भूमिका पर प्रतिष्ठित प्रणय का वर्णन है। वहाँ सम्भव का अर्थ उत्पत्ति न लेकर "सम्भवनम् सम्भवः" अर्थात् योग्य नायक की उत्पत्ति की सम्भावना का सुनिश्चित होना लेना चाहिए। ऐसा इसलिए कि देवताओं ने ब्रह्माजी से प्रार्थना की थी - **तदिच्छिमो विभो! स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये** (कुसं.२.५१)[१] - हम आपके माध्यम से तारकासुर के विनाश के लिए सेनानी बनवाना चाहते हैं। ब्रह्माजी ने भी उनको उपाय बताया कि जैसे लौहस्कान्तमणि लोहे को अपनी ओर खींच लेती है वैसे ही समाधिस्थ शम्भू के संयमित मन को पार्वती के प्रति उन्मुख बस कर दें देवताओं का सेनानी निर्माण का उपाय पूर्ण हो जाएगा -

उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः।
शम्भोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत्॥२.५१॥

ब्रह्माजी ने अपने वचन में पुत्रोत्पत्ति का या तारकासुर के वध का संकेत नहीं किया है। उन्होंने सेनानी के निर्माण का उपाय निश्चित किया, और वह था पार्वती के प्रति समाधिस्थ शङ्कर के मन की

---

[१] यहाँ तुमुनन्त क्रियापद "**स्रष्टुम्**" के स्थान अन्य संस्करणों में पाठ मिलता है क्तप्रत्ययान्त **"सृष्टम्"**। कालिदासग्रन्थावली में इसको आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अनुपयुक्त माना। क्तप्रत्ययान्त क्रियापद "सृष्टम् को मूलपाठ मानने पर सेनानी का कर्तृत्व देवताओं में निश्चित होगा जबकि तुमनन्त क्रियापद "स्रष्टुम्" मानने पर यह ब्रह्मा जी में सुनिश्चित होता है। यदि देवता सेनानी बनाने में स्वयं ही समर्थ थे तो वे ब्रह्माजी के पास किसलिए गए। उनकी ब्रह्माजी से सेनानी के निर्माण की प्रार्थना व्यर्थ सिद्ध होगी। तुमनन्त क्रियापद सेनानी का कर्तृत्व ब्रह्माजी में सुनिश्चित कर देवताओं की उनसे की गयी प्रार्थना को औचित्यपूर्ण सिद्ध करता है।

उन्मुखता मात्र। ऐसी स्थिति में आठवें सर्ग के आगे ९ से १७ सर्ग की कथा अकालिदासीय है।[१]

महाकवि ने सम्पूर्ण महाकाव्य में दो प्रधान वाक्यों के माध्यम से लोक को उपदेश दिया हैं। दोनों ही वाक्य महाकाव्य के महावाक्य हैं। पहला जो शंकर जी की समाधिभङ्ग के वृत्तान्त के प्रसंग से जुड़ा है - **विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः** (१.५९) - विकारोत्पत्ति के कारणों के उपस्थित होने पर भी धीर पुरुष विचलित नहीं होते।

और दूसरा महावाक्य है भगवती पार्वती की तपस्या से जुड़ा हुआ - **तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते** (५.६४) - ऊँचा संकल्प तपस्या की भूमिका पर प्रतिष्ठित होकर ही चरितार्थ हो पाता है।

भगवती पार्वती जब भौतिक सौन्दर्य के माध्यम से भगवान् शंकर को उन्मुख करने का प्रयास करती हैं तो वे विफल होती हैं, जबकि उनके इस प्रयास में तारकासुर से संत्रस्त सभी देवता और यहाँ तक कि प्रत्यक्ष कामदेव सहायक रहे। समाधिभङ्ग से क्रोधित हुए भगवान् कामदेव को भस्म कर अदृश्य हो हाते हैं। कामदेव ढाल बना था भगवती पार्वती के लिए शंकर द्वारा समाधिभंग के प्रयास में। देवताओं के द्वारा क्रोध के संहरण की प्रार्थना जब तक की जाती है तब तक तो शंकर जी के तृतीय नेत्र से निकली अग्नि कामदेव को भस्मसात् कर देती है -

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्तः।
तावद् स वह्निर्भनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥३.७२॥

मनुष्य के धैर्य की परीक्षा विपरीत परिस्थिति के उपस्थित होने पर ही होती है। विकार के कारण के उपस्थित होने पर भी शिवजी समाधिस्थ रहने के अपने संकल्प से विचलित नहीं होते। समाधिभङ्ग के कारण को निर्मूल कर अन्यत्र गमन कर जाते हैं।

---

[१] यदि हम कुमारसम्भव के इस अंश की भाषा, भाव, शब्दयोजना, शैली, वक्तव्य पर विचार करें तो यह अंश अलाकिदासीय ही सिद्ध होता है। आठवें सर्ग में महाकवि ने पार्वति और शंकर के विहार का वर्णन किया है और अन्त में वे कौतुकागार में प्रवेश करते हैं जहाँ शय्या जमीन पर बिछी हुई थी - **क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात्** (७.९४)। "कौतुकागार" का अर्थ रघुवंश के टीकाकार अरुणगिरिनाथ ने मङ्गलगृह किया है जो विवाहोपरान्त वर-वधू कि प्रथम मिलनगृह के रूप में प्रसिद्ध है। हमारी संस्कृति के अनुरूप महाकवि ने यहाँ कौतुकगार शब्द का प्रयोग लिया है, परन्तु जब नौंवें सर्ग में इसी चित्र को प्रस्तुत करना होता है तो वहाँ कवि ने "संभोगवेश्म" शब्द का प्रयोग किया, जो हमारी परम्परा में मान्य नहीं है। इस प्रकार से अनेक पदों का प्रयोग कवि ने इस अंश में किया है जो महाकवि की भाषा, भाव, वक्तव्य से मेल नहीं खाते। अतह् ९ से १७ सर्ग तक के कुमारसम्भव को कालिदास विरचित नहीं मानना चाहिए।

शिव जी के इस निर्णय से पार्वती समझ जाती हैं कि - **प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता** (५.२) - सौन्दर्य की सफलता प्रिय के सौभाग्य की उत्पत्ति में है जो भौतिक सौन्दर्य से सम्भव नहीं। उसकी उत्पति तो तपश्चर्या और आन्तरिक अध्यात्म से होती है। सौभाग्य शब्द महाकवि का प्रिय शब्द है। मेघदूत में भी इसका प्रयोग किया है - **वेणीभूतप्रतनु सलिला तामतीतस्य सिन्धुः, पाण्डुच्छायां तटरुहतरुभ्रंशभिः जीर्णपर्णः** (२९) - मेघ के प्रस्थान करने के उपरान्त, कालीसिन्धु नदी मेघ के प्रति अपने सौभाग्य का प्रकाशन करती है, क्योंकि मेघ के वियोग के अनन्तर उसकी जलराशि अत्यन्त कृशकाय हो गयी।

कामदेव के भस्म हो जाने और सौभाग्य के खण्डित होने पर उसकी सिद्धि के लिए भगवती पार्वती तपश्चर्या करने का निर्णय लेती हैं। उन्होंने तपश्चर्या के माध्यम से अपने रूप को अवन्ध्य सिद्ध करने का निर्णय लिया, क्योंकि उनको मालूम था कि ऐसे सौभाग्य की सिद्धि विना तपश्चर्या के सम्भव नहीं हो सकती -

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपाभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥५.२॥

भगवान् शङ्कर भगवती की उनको प्राप्त करने की प्रतिज्ञा की दृढ़ता को आँकने के लिए ब्रह्मचारी के वेष में उपस्थित होते हैं। शंकर की आलोचना कर वे पर्वती को तपस्या से विमुख करने का प्रयास करते हैं। शङ्कर के अनुसार समस्त वैभव से परिपूर्ण हिमालय की पुत्री को तपस्या करने की क्या आवश्यकता आ पड़ी। इस पर पार्वती उनको उत्तर देती हैं - आपने ठीक ही सुना है कि मैं एक ऊँचा पद प्राप्त करना चाहती हूँ। चराचर जगत् के अधिपति हैं उन शिवजी को पति के रूप में प्राप्त करने की इच्छा रखती हूँ। परन्तु ऐसा करते हुए मुझे विदित है कि तपस्या के बिना ऊँचे संकल्प की सिद्धि सम्भव नहीं -

यथा श्रुतं वेदविदांवर! त्वया जनोऽयमुच्चैः पदलंघनोत्सुकः।
तपः किलेदं तदवाप्ति साधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते॥५.६४॥

यहाँ महाकवि कलिदास ने लोक को उपदेश दिया है कि आप ऊँची वस्तु को प्राप्त करने का संकल्प या इच्छा करें पर यह जान लें कि तपश्चर्या पर प्रतिष्ठित संकल्प ही मनुष्य को सफल बनाता है। यदि तपश्चर्या का भाव नहीं है तो ऊँचा से ऊँचा संकल्प भी सिद्ध नहीं होगा। इन दृष्टांतो के माध्यम से महाकवि ने अनेक लौकिक उपदेश दिए हैं।

ब्रह्मचारी का वेश धारण कर भगवान् अपनी ही निन्दा करते हुए पार्वती को तपस्या से विचलित करने का अथक प्रयास करते हैं परन्तु अन्त में भगवती पार्वती की तपश्चर्या और दृढ़ता से प्रसन्न होकर स्वयं उपस्थित हो जाते हैं, उनका वरण करने के लिए। उन्होंने पहले पार्वती को उनके

संकल्प के प्रति हतोत्साह करते हुए कहा कि कन्या के लिए पिता जब वर खोजता है तो वह तीन चीजों को प्राथमिकता देता है - स्वस्थशरीर, कुलखानदान तथा कन्या के भरण पोषण का सामर्थ्य अर्थात् धनसम्पत्ति। शङ्कर में यदि देखें तो तीनों हीं अनुपस्थित हैं। क्योंकि -

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥५.७२॥

शङ्कर का शरीर विरूपाक्ष है, क्योंकि तीन नेत्र हैं उनके, तृतीय नेत्र तो अग्निरूप, जिसने पार्वती के देखते देखते कामदेव को भस्मसात् कर दिया। उनके माता-पिता के विषय में पता ही नहीं। दिगम्बर हैं शिव जी। धुनी रमा कर श्मशान में घूमते रहते हैं और जहाँ तक धनसम्पत्ति का प्रश्न है वह उनके इस स्वरूप से स्वतः प्रकट होती है। वर बनने के लिए अपेक्षित तीनों ही विशेषताएँ शङ्कर जी में नहीं है। ऐसी स्थिति में उनसे विवाह का पार्वती का आग्रह अनुचित ही नहीं अमंगलकारी भी था। इसके माध्यम से कवि ने लोकव्यवहार में मनुष्य को किस प्रकार निर्णय लेना चाहिए इसकी ओर संकेत किया है।

भगवान् शङ्कर के इस आक्षेप का जो उत्तर पार्वती ने दिया वह भी हमारे लिए अत्यन्त आदरास्पद और लोकोपदेशक है - **अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चिरितं महात्मनाम्** (५.७५) - जो महात्म होते हैं, उनका चरित अलोकसामान्य और अचिन्त्यहेतुक होता है। अर्थात् आमान्य व्यक्ति उनको नहीं समझ सकता और उनकी लीलाओं के पीछे के प्रयोजनों को नहीं जाना जा सकता। अतः मन्दमति व्यक्ति उनके प्रति निन्दा का भाव रखने लगते हैं। भगवान् शङ्कर की निन्दा करने वाला ब्रह्मचारी मन्दमति है इसलिए वह उनके अलौकिक यथार्थ स्वरूप को न समझ इस प्रकार उनके स्वरूप के लिए निन्दापूर्ण वचन कहता है। इसके अतिरिक्त - **न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः** (५.७७), **न विश्वमूर्त्तेरवधारयति वपुः** (५.७८) - भगवान् शङ्कर विश्वमूर्त्ति हैं अतः उनके स्वरूप को निश्चित नहीं किया ज सकता। यहाँ विश्वमूर्त्ति से तात्पर्य है अष्टमूर्त्ति जिसको महाकवि ने अनेक प्रसंगों में प्रस्तुत किया है।[१]

पार्वती ब्रह्मचारी वेष में उपस्थित हुए शंकर से आगे कहती हैं - **न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते** (५.८२) - यदि मैं शङ्कर को चाहती हूँ तो मैं समझती हूँ कि उनसे उत्तम पात्र मेरे लिए कोइ नहीं हो

---

[१] अभिज्ञानशाकुन्तल के नान्दीपद्य में - **प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नांस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः** (शाकु.१.१) और इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र के भी नान्दीपद्य में - **अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्विभ्रतो नाभिमानः** (माल.१.१) - शङ्कर के अष्टमूर्त्ति स्वरूप की ओर इस प्रकार महाकवि ने संकेत किया है। अष्टमूर्त्तियाँ हैं शिवजी की - पञ्चमहाभूत, सूर्य, चन्द्र और यजमान।

सकता। इसलिए मैंने जो निर्णय लिया है उसमें कोई दोष नहीं। मैं किसी की निन्दा की चिन्ता नहीं करती। इसके माध्यम से महाकवि कालिदास ने लोक को उपदेश दिया है कि रूपसंपन्नता दुरुपयोग के लिए नहीं होती। इसके अनन्तर जो पार्वती के विवाह की कथा है उसमें भी महाकवि ने लोक को अनेक व्यावहारिक उपदेश दिये हैं।

पार्वती के संकल्प को अडिग देख शङ्कर स्वयं को प्रकट कर उनकी दासता स्वीकार कर लेते हैं - **अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः** (५.८६) - ऐसा कहते हुए। परन्तु यहाँ पार्वती लोकमर्यादा के अनुरूप ही आचरण करती हैं। उनको तपस्या का फल मिल गया था और साक्षात् ईश्वर दासता को प्राप्त हो रहे थे, फिर भी पार्वती संयम और पारिवारिक प्रतिष्ठा के अनुरूप आचरण करती हैं। वे शङ्कर से अपनी सखी के माध्यम से कहलवाती हैं - **दाता मे भूभृतां नाथः प्रमाणीक्रियतामिति** (६.१) - पार्वती का शङ्कर के साथ विवाह करने का अधिकार हिमालय (पिता) को है। मेरा अधिकार केवल शङ्कर को अनुकूल करने तक था। सो मैंने कर दिया। अब शङ्कर से विवाह होगा या नहीं इसका निर्णय पार्वती के माता-पिता करेंगे। पार्वती ने यह बात सीधे न कह अपनी सखी के माध्यम से कहलवायी।

शङ्कर भी मर्यादा के अनुरूप पार्वती के साथ विवाह का प्रस्ताव लेकर सप्तर्षियों और देवमाता अरुन्धती को हिमालय के पास भेजते हैं। उनको मालूम था - **विक्रियार्य न कल्पन्ते सम्बन्धाः सदनुष्ठिताः** (६.२९) - श्रेष्ठ व्यक्तियों के द्वारा कराए गए सम्बन्ध कभी दोषपूर्ण नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त माता अरुन्धती को देखकर शङ्कर के मन में सत्पत्नी को प्राप्त करने की अभिलाषा जाग उठी। उनको मालूम था - **क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलसाधनम्** (६.१३) - समस्त लौकिक कार्यव्यापार की सफलता सत्पत्नियों पर ही निर्भर करती है।

हिमालय के पास सप्तर्षि और माता अरुन्धती पहुँच जब शङ्कर से पार्वती के विवाह का प्रस्ताव करती हैं तो वे चाहते तो स्वयं अकेले स्वीकार कर आगे बढ़ सकते थे। परन्तु, उनको भी लोकमर्यादा का ज्ञान था। हिमालय ने कन्या पार्वती के लिए इतने उत्कृष्ट विवाह के प्रस्ताव के आने पर भी अन्तिम निर्णय लेने के पूर्व पत्नी मेना की ओर देखा और मेना की स्वीकृती प्राप्त कर पार्वती के विषय में निर्णय लिया। महाकवि कालिदास कहते हैं कि -

शैलः सम्पूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत।
प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थे हि कुटुम्बिनः॥ (६.८५)

हिमालय सम्पूर्णकाम थे। वे चाहते तो अकेले भी निर्णय ले सकते थे, परन्तु उन्होंने अपनी पत्नी मैना के माध्यम से पुत्री के विवाह के विषय में निर्णय लिया। विदित है कि पिता की अपेक्षा माता के अधिक निकट होती हैं पुत्री और उनसे अपने मन की बत खुलकर कहती है।

यहाँ आप देखें कि मर्यादा का पालन यदि भगवती पार्वती ने किया जो उतनी ही लौकिक मर्यादा का पालन भगवान् शङ्कर भी करते है। हिमालय, सप्तर्षियों, माता अरुन्धती और माता मैना ने मिलकर शङ्कर और पार्वती के विवाह को सम्पन्न कराया।

महाकवि कालिदास विरचित **मेघदूत** खण्डकाव्य में जो प्रधान लौकिक सन्देश हमे मिलता है वह है - **यच्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा** (६) - हमको यदि कुछ माँगना हो तो उच्चकुलोत्पन्न व्यक्ति से ही माँगना चाहिए कभी भी निम्न व्यक्ति से नहीं। क्योंकि उच्च व्यक्ति से की गयी याचना यदि सफल हो जाती है तो वह कभी प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं करेगा और यदि विफल हो जाती है तो याचक स्वयं को अपमानित महसूस नहीं करेगा। परन्तु यदि आप ने किसी निम्नकोटि के व्यक्ति से किसी वस्तु की याचना की और वह सफल हो गयी तो नीच व्यक्ति अवसर आने पर आपको भुना सकता है। यदि याचना सफल हो गयी तो आप अपमानित महसूस नहीं करेगे। इसीलिए मेघ याचना करता है मेघ की उच्चकुलसम्पन्नता को देखकर -

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः॥ (६)

तुम पुष्कर और आवर्तक नामक मेघकुलों में उत्पन्न हुए हो और इन्द्र के विश्वसनीय पुरूष हो। परन्तु, इससे समाधान नहीं होता। मेघ चाहता तो स्वयं सन्देश लेकर अलकापुरी जा सकता था, वह देवयोनि में उत्पन्न जो हुआ है। ऐसा होते हुए भी वह अलकापुरी नहीं जा सकता था, क्योंकि उसकी सम्पूर्ण महिमा या सिद्धियों को समाप्त कर दिया था उसके स्वामी कुबेर के शाप ने - **शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येन भर्तुः** (१) - यदि ऐसा न करते कुबेर तो यक्ष शाप की अवधि हरिप्रबोधिनी एकादशी (कार्त्तिक शुक्ल एकादशी) के पूर्व अलकापुरी में उपस्थित हो सकता था। इसलिए शाप के प्रभाव से समाप्त महिमा वाला यक्ष चाह कर भी अलकापुरी नहीं जा सकता। अतः वह केघ को अपने सन्देश भेजने का आश्रय बनाता है।

मेघ ने भी बड़े औचित्य का पालन किया। जब वह यक्षिणी के पास पहुँचता है तो उसने पहला वचन बोला -

भर्तुमित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्सन्देशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम्।

यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षित्सुकानि॥ (९७)

मेघ ने अपना परिचय दिया कि मैं तुम्हारे पति का मित्र हूँ और तुम अविधवा हो। अविधवा कहने से यक्षी के अन्दर चेतना आ जाती है। क्योंकि बीती हुई वियोग की आठ महिने की अवधि में यक्ष नष्ट हो सकता था। लेकिन मेघ ने अपने सम्बोधन में ही इस सम्भावना को नकार कर यक्षी को मेघ के जीवित होने के प्रति आश्वस्त कर दिया, यक्षी को अविधवा कह अपरिचित व्यक्ति से पति की अनुपस्थिति में यक्षी बात नहीं करती। इस स्थिति में मेघ ने अपना परिचय देते हुए कहा कि वह यक्ष का प्रिय मित्र है और प्रिय इतना कि उसके सन्देश को हृदय में धारण कर उपस्थित हुआ है। इस प्रकार के अनेक औचित्यपूर्ण व्यावहारिक वचनों से मेघदूत भरा है जो लोकोपदेशक हैं।

मालविकाग्निमित्र में महाकवि कालिदास ने नाटक के प्रारम्भ में ही कह दिया है -

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तण् क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।

त्रैगुण्योद्भवमत्रलोकचरितं नानारसं गीयते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधानम्॥ १.४॥

नाटक में लोकचरित अनेक प्रकार के रसों से समन्वित होकर उपस्थित होता है। इसलिए नाटक भिन्न रुचि वाले लोगों के लिए विशेष प्रकार का समाराधन है। यहाँ पर भी महाकवि लोक छोड़ कर आगे नहीं बढ़ते। महाकवि के तीनों ही नाटक प्रणयप्रधान कथानकों पर आश्रित हैं, परन्तु तीनों का उद्देश्य लोकहित की रक्षा में समर्पित राष्ट्रीय नाटक को राष्ट्र को प्रदान करना है। मालविकाग्निमित्र में तीन पीढियों की कथा उपस्थित है। पितामह हैं सेनापति **पुष्यमित्र** मगध के शासक, पुत्र है राजा **अग्निमित्र** विदिशा का प्रशासक और पौत्र है पितामह के अश्वमेध के अश्व का संरक्षक **वसुमित्र** जो सिन्धु के दक्षिणी तट पर यवनों को युद्ध में परास्त कर अश्व की रक्षा करता है। यहाँ वसुमित्र रूपी भावी नायक उपस्थित दिखलाई देता है।

नाटक के प्रारम्भ में ही महाकवि ने शिक्षाविषयक लोकोपदेश के अनेक सूत्रों को उपस्थित किया है। मालविकाग्निमित्र में गणदास और हरदत्त मालविका को नृत्य की शिक्षा देते हैं। दोनों में विवाद हो जाता है कि किसकी शिक्षा अधिक श्रेयकर है। इस विवाद में परिव्राजिका कौशिकी को निर्णायक बनाया जाता है। इस वृतान्त के माध्यम से महाकवि ने उत्तम शिक्षक व छात्र दोनों के महत्त्वपूर्ण पक्षों को प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा -

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्प्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां नीयमानस्य॥ १.६॥

गुणवान् शिष्य में गुरु द्वारा दी हुई विद्या विशेष रूप से प्रकाशित होती है वैसे ही जैसे जल की बूँद सीपी में गिरे मोती बन जाती है। आकाश से गिरने वाली जल की बूँद समुद्र में गिरती है तो खारी

हो जाती है लेकिन वही यदि गिरती है तो मुक्ताफल या मोती बन जाती है। गुरुद्वारा प्रदत्त ज्ञान महत्त्वपूर्ण होता है परन्तु शिष्य में उसको ग्रहण करने की योग्यता होनी चाहिए। इसी बात को रघुवंश महाकाव्य में महाकवि ने कहा - **क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति** -ज्ञान यदि श्रेष्ठ शिष्य को प्राप्त होता है तो वह विकास या प्रसाद को प्राप्त करता है। इसी प्रकार - **पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते** - गुण ही सर्वत्र प्रतिष्ठा के कारण बनते हैं। शास्त्रों में भी कहा गया है - **क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाऽद्रव्यम् -** विद्या संस्कारवान् शिष्य को और अधिक संस्कारवान् बना देती है परन्तु असंस्कारवान् को नहीं।

श्रेष्ठ शिक्षक के गुणों के विषय में महाकवि कहते हैं -

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः।
पङ्कच्छिदे फलस्येव निकषेणाविलं पयः॥२.७॥

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु॥२.९॥

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिनन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥१.१६॥

मन्द शिष्य भी अमन्द यानी चतुर बन जाता है विद्वान् के संसर्ग से, जैसे निर्माली के संसर्ग से गन्दा पानी। इसी प्रकार विद्वान उपदेष्टा के उसी उपदेश को शुद्ध मानते हैं जो विद्वानों के बीच श्याम न पड़े अग्नि में सोने के समान। इसी प्रकार जिसमें आत्मज्ञान के साथ शिष्य में उसको संक्रान्त करने की योग्यता हो उसको ही अध्यापन का दायित्व दिया जाना चाहिए।

महाकवि कालिदास आज हमको उपदेश देते हैं कि यदि हम किसी उच्चपद पर प्रतिष्ठित हैं और केवल सामान्य दायित्व का निर्वाह करते हैं, न विद्या की रक्षा करते न उसको भविष्य की पीढ़ियों में संक्रान्त करने का प्रयास करते, तो हम केवल जीविकामात्र के लिए ज्ञान की दुकान खोलकर बैठे वणिक् के समान व्यवहार करते हैं -

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति॥१.१७॥

नृत्यविद्या के जानकार गणदास और हदत्त के द्वारा मालविका को प्रदत्त प्रशिक्षणकी परीक्षा करायी जाय या नहीं इस विषय में महारानी धारिणी और राजा अग्निमित्र के मध्य मतभेद हो जाता है। धारिणी कहती हैं - **यदा पुनः मन्दमेधा शिष्या उपदेशं मलिनयन्ति तदा आचार्यस्य को दोषः** (१.१७.४)।

यदि शिष्य की मति मन्द है और वह विद्या ग्रहण नहीं कर पाता तो उसमें आचार्य का कोई दोष नहीं। इसका राजा ने उत्तर दिया - **एवमापठ्यते विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयति** (२.१७.५) - गुरु की शिष्य को सूक्ष्मज्ञान प्रदान करने की योग्यता तभी प्रमाणित होती है जब वह कमजोर शिष्य में भी अपनी विद्या को मजबूती के साथ प्रतिष्ठित कर सके।

यहाँ महाकवि कालिदास भवभूति के विपरित बोलते दिखाई देते हैं। भवभूति ने उत्तररामचरित में कहा था -

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां तथैव यथा जडे
न च खलु तयोर्ज्ञाने वृद्धिं करोत्यपहन्ति वा।

भवति च पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति हि पुनर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः॥

गुरु योग्य तथा जड़ दोनों ही प्रकार के शिष्यों को समान रूप से विद्या प्रदान करते हैं। वे उनके ज्ञान में न वृद्धि करते न कमी। पर दोनों के ज्ञान ग्रहण करने के सामर्थ्य में महान अन्तर दिखाई देता है। प्रसिद्ध है कि मिट्टी के ढेले में किसी चीज को प्रतिबिम्बित करने की योग्यता नहीं होती पर मणि में बिम्ब को ग्रहण कर प्रतिबिम्बित करने की भी योग्यता होती है।

महाकवि भवभूति ने योग्य शिष्य को मणि के समान और जड़ शिष्य को मिट्टी का ढेले के समान माना और दोनों के ज्ञान ग्रहण करने के सामर्थ्य में अन्तर को उनके अन्तर का कारण माना। इसमें गुरु का कोई दोष नहीं होता। महाकवि कालिदास इसके विपरीत मानते हैं कि - **विनेतुरद्रव्यपरिग्रहो हि बुद्धिलाघवं प्रमाणयति** (२.१७.५) - यदि आप किसी कमजोर शिष्य में अपनी विद्या को प्रतिष्ठित करते हैं तभी आपकी विद्याग्रहण की सार्थकता है।

मालविकाग्निमित्र में वसुमति नामक भावी नायक हमको प्राप्त होता है जिसने सिन्धु नदी के दक्षिणी तट पर यवनों को परास्त कर अश्वमेध के अश्व की रक्षा की -

ततः परान् पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्त्तितः॥५.१५॥

यह सूचना पिता पुष्यमित्र मे अपने पुत्र विदिशा के प्रशासक अग्निमित्र के पास भेजी। उन्होंने मगध में सम्पन्न हो रहे अश्वमेध की सम्पूर्ति में पुष्यपित्र से सम्मिलित होने का आग्रह किया इस सूचना के साथ की उसका पुत्र वसुमित्र अश्वमेध के अश्व की रक्षा में सफल हुआ है। वहाँ उपस्थित परिव्राजिका वसुमित्र के माता - पिता राजा अग्निमित्र और महारानी धारिणी को सम्बोधित कर कहती हैं कि -

भर्त्रांसि वीरपत्नीनां श्लाघ्ययां स्थापित धुरि।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात् त्वामुपस्थितः॥५.१६॥

माता धारिणी आज वीर कहलाने योग्य हो गयी हैं, क्योंकि उनके पुत्र वसुमित्र ने अश्वमेध के अश्व की रक्षा कर पितामह पुष्यमित्र को प्रदान किया अश्वमेध की निर्विघ्न सम्पूर्ति का फल

मगधनरेश पुष्यमित्र भी प्रसन्न होकर इस अवसर पर कहते हैं -

सोऽहमिदानीमंशुमतेव सगरः पोत्रेण प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये (५.१६.३)।

"मैं मगध मे बैठ कर यज्ञ कर रहा हूँ पौत्र अंशुमान द्वारा यज्ञाश्व को लौटाने तक, राजा सगर के समान। अर्थात् राजा सगर के पौत्र अंशुमान ने जैसे अश्वमेध के अश्व की रक्षा की थी वैसे ही आज मेरे पौत्र वसुमित्र ने यज्ञाश्व की रक्षा कर मुझको यज्ञ की निर्विघ्न सम्पूर्ति के फल से युक्त किया है।

विक्रमोर्वशीय नाटक में च्यवन और नारद दो देवर्षि राष्ट्ररक्षक आयुष्य नामक नायक प्रदान करते हैं। इस नाटक का प्रधान वाक्य है - **अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः** (१.१८.१) - यदि आप पराक्रमी हैं तो वह पराक्रम तभी सुशोभित होगा जब आपके अन्दर अनात्मश्लाघा, अनुत्सेक या अहङ्कार हो। राजा पुरूरवा केशी नामक राक्षस से उर्वशी और उसकी सखी चित्रलेखा को बचाते हैं परन्तु, वे इसका श्रेय देवराज इन्द्र को देते हैं। यहीं पर महाकवि कालिदास ने इस वचन को प्रस्तुत किया हैं।

नाटक के अन्त में भगवती पार्वती के चरणराग से उत्पन्न संगमनीय मणि को लेकर एक अज्ञात पक्षी उड़ जाता है। यह संगमनीय मणि कुमारवन में उर्वशी और पुरूरवा के मिलन का कारण बनी थी। कुमारवन में प्रवेश करते ही शाप के वशीभूत होकर वासन्ती लता बन जड़ हो गयी उर्वशी का मिलन राजा से इसी मणि के प्रभाव से होता है। राजा उस पक्षी को रोकने मे समर्थ नहीं होते। तभी एक बाण पक्षी को लगता है और वह मणि सहित धरती पर गिर पड़ता है। उस बाण पर उसको चलाने वाले का नाम अंकित था -

उर्वशीसम्भवस्यायम् ऐलसूनोर्धनुष्मतः।
कुमार्यायुषो बाणः संहर्त्ता द्विषदायुषाम्॥५.७॥

यह बाण धनुष्मान् ऐलसूनु आयुष्य का है जो पुरूरवा और उर्वशी से उत्पन्न है। कैसा है वह आयुष्य तो वह है धर्मविपरीत आचरण करने वालों की आयु को छीन लेने वाला। इसी समय महर्षि नारद उपस्थित होकर आयुष्य का युवराज पद पर अभिषेक कर देते हैं - **उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकसम्भारः** (१५.२१.५)।

महाकवि कहते हैं कि जिस प्रकार इन्द्र ने कार्त्तिकेय को देवसेना के सेनापति पद पर अभिषिक्त किया था आज उसी प्रकार पुरूरवा के साथ युवराज पद पर अभिषिक्त होता है आयुष्य। यहाँ नाटक पूर्ण होता है। सम्पूर्ण प्रणय व्यापार की परिणित राष्ट्र को योग्य नेतृत्व प्रदान करने वाले युवा नायक की प्राप्ति से होती है जिसका निर्माण और संरक्षण ऋषिकुलों में हुआ। महाकवि सम्पूर्ण लोक के सर्वविध कल्याण की कामना करते हैं -

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोतु सरवः सर्वत्र नन्दतु॥५.२५॥

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में महर्षि कण्व और महर्षि मारीच के दो प्रतिष्ठित आश्रमों में नायक को तैयार किया जाता है। नायक भी कौन सर्वदमन भरत। देवलोक से माता मेनका भी अपनी पुत्री शकुन्तला को संरक्षण प्रदान करती हैं क्योंकि वे भी चाहती थीं कि राष्ट्र को एक योग्य नेतृत्व प्रदान करने वाला नायक मिले।

नाटक के प्रारम्भ में हस्तिनापुर नरेश दुष्यन्त को पुत्रप्राप्ति का आशीर्वाद देते हैं वैखानस - **पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि** (१.१२) और वैखानसों के इस आशीर्वाद की सम्पूर्ति के निमित्त सात अंकों के नाटक की रचना महाकवि ने की। इस नाटक में अभिज्ञान की प्रधानता है, परन्तु अभिज्ञान प्रधान रूप से किसका शकुन्तला या शाकुन्तल का? यहाँ शाकुन्तल भरत का अभिज्ञान प्रधान है, क्योंकि उसी से राष्ट्र की भावी समस्या का समाधान होता है। समस्या थी राष्ट्र के संवाहक भावी योग्य नायक की प्राप्ति की। अङ्गुलीय (अँगुठी) दुष्यन्त और शकुन्तला के पति-पत्नी रूप के अभिज्ञान में कारण बनता है, परन्तु यहाँ जो अपराजिता औषधि है वह दुष्यन्त और शकुन्तला के औरस पुत्र के रूप में सर्वदमन या भरत की पहँचान में कारण बनती है। प्रारम्भ में ही राजा ने शकुन्तला की सखियों, प्रियंवदा और अनुसूया से कह दिया था कि उसकी बहुत सी रानियाँ हैं पर उसके कुल की प्रतिष्ठा में कारण बनेगी उन दोनों की सखी शकुन्तला -

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वी प्रतिष्ठे कुलस्य में।
समुद्ररशना चार्वी सखी च युवयोरियम्॥३.१९॥

यही शकुन्तला प्रदान करती है राजा दुष्यन्त को योग्य पुत्र सर्वदमन या भारत नामक भावी नायक -

रथेनोद्धातस्तिमितगतिना तीर्णजमधिः
पुरा सप्तद्वीपामवति वसुधामप्रतिरथः।

इहायं सत्वानां प्रशमदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्॥७.३३॥

लोक का भरण करने के लिए यह प्राप्त करेगा भरत इस संज्ञा को, परन्तु शत्रुओं का दमन करने के कारण यह सर्वदमन इस संज्ञा को प्राप्त करेगा।

अभिज्ञानशाकुन्तल में दो प्रसिद्ध ऋषिकुल एक योग्य राष्ट्रीय नायक राष्ट्र को प्रदान करते निरन्तर प्रवृत्त होते दिखाई देते हैं। यह समस्यागर्भित नाटक है। समस्या है हस्तिनापुर के राजकुल में पुत्रोत्पति की या राष्ट्र के भावी संचालक की अनुपस्थिति की। उसकी प्राप्ति और समुचित पहचान से नाटक की सम्पूर्ति होती है।

नाटक के अन्तिम अंक में महाकवि ने मारीचाश्रम में तपस्यारत मुनि के स्वरूप वर्णम के माध्यम से कहते हैं कि लोक के सभी प्राणियों को अविचलित भाव से निस्पृह होकर अपने कर्तव्य कर्म के प्रति समर्पित होकर जीवन यापन करना चाहिए। इसी से लोक की प्रतिष्ठा सम्भव है -

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्म्याभिषेकक्रिया

ध्यानं रत्नशिलागृहेषु बिबुधस्त्रीसंगमे संयमो।
यत्कांक्षन्ति तपोभिरन्यमुनयो तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी॥७.१२॥

वन है उत्तम कल्पवृक्षों का पर प्राणधारण का साधन बन रहा है केवल वायु। कनक कमल के पराग से सुरभित है जलराशि पर उसमें केवल धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करने के लिए नियमपूर्वक स्नान ही किया जाता है, गृह है रत्नशिलाओं से निर्मित पर उसमें केवल ध्यान लगाकर बैठे हैं मुनि। अप्सराओं की सन्निधि के होते हुए भी जीवन है इनका अत्यन्त संयमपूर्ण। वहाँ पहुँच कर तपोरत दिखाई दे रहे हैं मारीच आश्रम के मुनि जहाँ पहुँचने के लिए अन्य मुनि तपस्या करते दिखाई देते हैं अत्यन्त वैराग्यपूर्ण अवस्था में। इस वैराग्य पर प्रतिष्ठित अध्यात्मपूर्ण जीवन जीने का उपदेश देती है महाकवि की कविता, सम्पूर्ण लोक को। ऋषिपरम्परा से संरक्षित राजपरम्परा के माध्यम से प्रत्येक काव्य में महाकवि ने राष्ट्र को एक योग्य नेतृत्व प्रदान करने वाले युवा नायक को उपस्थित किया है।